

चेतना विकास मूल्य शिक्षा

कक्षा — 5

प्रकाशक

संरक्षण एवं मार्गदर्शन

ए. नागराज

प्रणेता

मध्यस्थ दर्शन (सह—अस्तित्ववाद)

लेखन

साधन भट्टाचार्य

श्रीराम नरसिम्हन

कुमार संभव, सोम त्यागी

बी.आर. अग्रवाल, अंजनी कुमार

श्रीमती सुवर्णा योगेश

प्राक्कथन

मानवीय शिक्षा का प्राक्कथन एक आवश्यकता के रूप में हमें महसूस हुआ। क्योंकि यह पाठ्यपुस्तिका का उपक्रम पहली कक्षा से प्रस्तुत किया गया है। क्रम से परंपरागत होने तक सिलसिला बना ही रहेगा। सहअस्तित्व अपने स्वरूप में व्यापक वस्तु में ही सम्पूर्ण एक-एक वस्तु जैसा परमाणु, अणु, ग्रह, गोल, सौर व्यूह, आकाश गंगा। यह डूबी, भीगी, घिरी होने के आधार पर नियंत्रण, क्रियाशीलता और ऊर्जा सम्पन्नता प्रत्येक वस्तु में नित्य प्रमाण के रूप में देखा गया है। साथ में यह भी समझा गया है कि व्यापक वस्तु में समाहित सम्पूर्ण एक-एक वस्तुओं की अविभाज्यता नित्य वर्तमान है। यही सह-अस्तित्ववादी विश्व-दृष्टिकोण का मूल रूप है। ऐसे सहअस्तित्व नित्य प्रभावी रहना स्वाभाविक है।

सहअस्तित्व को ध्यान में रखते हुए प्रथम कक्षा से अर्थात् अक्षराभ्यास से चलकर शब्दों का अभ्यास और शब्दों के अभ्यास से अर्थ का अभ्यास, अर्थों के अभ्यास के तात्पर्य में हर शब्द किसी वस्तु का, क्रिया का अथवा फल-परिणाम का नाम है। ऐसा अर्थ इंगित होना ही शब्द से अर्थ समझा गया है। इसलिए अर्थबोध करने के उपक्रम में शिक्षा विधा को अध्ययन के रूप में प्रस्तुत करने का सौभाग्य प्रस्तुत हुआ। यह पठन विधि से अर्थ बोध तक पहुंचने का मार्ग प्रशस्त हुआ। इसे प्रस्तावित करना इसलिए आवश्यक समझा गया कि मानव सह-अस्तित्व विधि से ही समुदाय चेतना से मानव चेतना में संतुलित होना है। मानव चेतना का प्रयोजन, समाधान, समृद्धि, अभय, सहअस्तित्व पूर्वक जीने का प्रमाण है। इससे अखण्ड समाज सार्वभौम व्यवस्था की पहचान होना स्वाभाविक है।

यह तो सटीक है कि विगत विधि से जो पाठ-पठन का लक्ष्य था, उसे आगे पढ़ाने के जिल भी उपायों को खोजा गया है, वह सब सार्थक है, मूलतः मानवीय शिक्षा के अभाव वश सामुदायिकता, मतभेद, साम, दाम, दण्ड, भेद, परस्पर समुदायों की निहित अतिशोधों का विश्वास प्रयोग हो चुका है। इन सब अभिशापों से मुक्ति पाने की आकांक्षा मानव में निहित होना भी पाया गया। इसलिए मानवीय शिक्षा का निश्चयीकरण आवश्यक समझा गया है। इसे क्रियान्वयन करने की क्रमविधि से प्रस्तुत किया। मानवीय शिक्षा में मानव का अध्ययन प्रधान उद्देश्य है। इस उद्देश्य को साधक बनाने के क्रम में प्रथम कक्षा से ही सूत्रपात रूप में मूल्य संबंधी और शरीर के अवयव संबंधी शब्दों का अधिकतम चयन किया गया है। साथ में परस्पर मानव संबंधों से संबंधित शब्दों का चयन किया गया है। इसे हर बालक अथवा किशोर आसानी से पहचान पायेगा। ऐसी हमारी स्वीकृति है। यह सार्थक और सफल होना पाया गया है। भविष्य में मूल्यांकन होता रहेगा। इस विधि से सर्व शुभहोने की कामना है।

ए. नागराज

प्रणेता

मध्यस्थ दर्शन (सहअस्तित्ववाद)

श्री नर्मदाचंद, भजनाश्रम, अमरकंटक

जिला अनूपपुर (मध्यप्रदेश)

भूमिका

विज्ञान शिक्षा से छात्र-छात्राओं एवं युवाओं में तर्कशक्ति का अभूतपूर्व विकास हुआ है। जिससे आस्था (बिना जाने मान लेना) की प्रवृत्ति में कमी आई है। अतः परंपरागत शैली जिसमें यह करो, यह न करो अथवा "ऐसा जीना चाहिए" आदि उपदेश विद्यार्थियों में अब प्रभावशाली सिद्ध नहीं हो पा रहे हैं। ऐसे में परिवारोन्मुखी, समाजोन्मुखी शिक्षा के सार्वभौम स्वरूप पर चिंतन की आवश्यकता है।

यूनेस्को ——— द्वारा अपेक्षित शिक्षा के चार स्तम्भों में मुख्य स्तम्भ ——— अर्थात् "साथ-साथ जीना सीखना" पर जोर दिया है।

मानव संसाधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार ने मानव मूल्य शिक्षा हेतु निम्न मार्गदर्शन दिया है—

1. पाठ्यक्रम किसी भी प्रकार के अंधविश्वास, कर्मकाण्ड व पूजन पद्धति से मुक्त हो।
2. पाठ्यक्रम रहस्यवाद, सम्प्रदायवाद व व्यक्तिवाद से मुक्त हो।
3. पाठ्यक्रम "करो, न करो" आदि उपदेश न होकर तर्कपूर्ण हो, तर्कपूर्ण ढंग से इसका प्रयोग एवं विश्लेषण द्वारा परीक्षण कर सकते हो।
4. पाठ्यक्रम को आचरण में प्रमाणित किया जा सकता हो।
5. पाठ्यक्रम दर्शन आधारित हो।

आधुनिक शिक्षा को रोजगारोन्मुखी ही नहीं बल्कि परिवारोन्मुखी, समाजोन्मुखी भी होने की आवश्यकता है, ताकि हर परिवार समाधान, समृद्धिपूर्वक जी सके। समाधान का अर्थ मानव संबंधों में परस्पर तृप्ति एवं प्रकृति के साथ संतुलनपूर्वक जीना है। समृद्धि अर्थात् अभाव-मुक्त जीना इस आशा की पूर्ति के लिए मानवीय मूल्यों के शिक्षक की आवश्यकता महसूस की जाती रही है।

मध्यस्थ दर्शन (सह-अस्तित्ववाद) उपरोक्त सभी कसौटियों को पूरा करता है, जिसका परिचय "जीवन विद्या शिविरों" के माध्यम से प्रस्तुत किया जाता है। मध्यस्थ दर्शन से विस्तृत चेतना विकास मूल्य शिक्षा मानव में पाँच सद्गुणों को सुनिश्चित करती है —

1. स्वयं में विश्वास
2. श्रेष्ठता का सम्मान
3. प्रतिभा एवं व्यक्तित्व में संतुलन
4. व्यवसाय में स्वावलंबन
5. व्यवहार में सामाजिकता

आज धरती एक गाँव ——— हो गयी है। अतः विश्व शांति हेतु वैश्विक नागरिक ——— अर्थात् सार्वभौम मानवीय आचरण को पहचानने की आवश्यकता है। चेतना विकास मूल्य शिक्षा के प्रकाश में सार्वभौम मानवीय आचरण, सार्वभौम मानवीय शिक्षा, सार्वभौम मानवीय व्यवस्था, सार्वभौम मानवीय संविधान का व्यावहारिक स्वरूप व्याख्यायित होता है। साथ ही "मानव में समानता" व धर्मनिरपेक्षता का व्यावहारिक स्वरूप प्रकट होता है जिससे "मानव जाति एक, मानव धर्म एक" पूर्वक जीने की राह प्रशस्त होती है।

विश्व के इतिहास में शायद पहली बार हुआ है कि संपूर्ण दर्शन को प्राथमिक शिक्षा के स्तर पर पहुंचाया गया हो। राज्य शासन ने कक्षा 10वीं तक अध्ययन करने वाले सभी बच्चों को सहअस्तित्व का महत्व इस दर्शन के माध्यम से सिखाने का निर्णय लिया है। यह पुस्तक इसी प्रयास का एक भाग है। हम आशा करते हैं कि शिक्षक स्वविवेक के साथ इस पुस्तक का उपयोग करके इस महती उद्देश्य की पूर्ति करेंगे। जाहिर है आपके सुझावों का हमें हमेशा इंतजार रहेगा।

नंद कुमार (भा.प्र.से.)

संचालक

लेखकीय

प्रत्येक शिशु जन्म से ही न्यायापेक्षी, सही कार्य—व्यवहार करने वाला एवं सत्य वक्ता होता है, परन्तु न्याय, सही कार्य—व्यवहार एवं सत्य से शिशु अनभिज्ञ रहता है। इन्हें समझने के लिए वह परम्परा पर, मुख्यतः शिक्षा परम्परा पर आश्रित रहता है। इस हेतु आज्ञापालन, अनुसरण, अनुकरण एवं जिज्ञासा सम्पन्न रहता है।

प्राथमिक कक्षा में प्रवेश के पूर्व ही सभी शिशु अपनी मातृभाषा को समझने व बोलने की योग्यता से सम्पन्न होते हैं एवं अपने परिवेश के प्रायः सभी कार्य—व्यवहार व वस्तुओं को पहचानते हैं। अपने परिवेश के अनुसार मान्यता व विचार संपन्न रहते हैं।

विद्यालय में प्रवेश के साथ शिक्षा में अक्षर, शब्दों एवं अंकों को पहचानने व लिखने का कार्य शिक्षा की प्रमुख वस्तु होती है जबकि सभी विद्यार्थी अनेक वाक्यों को बोलने, अनेक वाक्य बनाने में समर्थ रहते हैं। उनकी इस पूर्व योग्यता को बढ़ाने के लिए शिक्षा में स्पष्ट कार्यक्रम का अत्याभाव है फलतः शिक्षा में पर्याप्त रुचि नहीं बनती। इसी के साथ प्राथमिक स्तर पर स्वयं पढ़कर समझने—सीखने की योग्यता अधिकांश विद्यार्थियों में विकसित नहीं होती है और वे अधिकांशतः शिक्षक पर ही आश्रित रहते हैं। इसे पूरा करना ही शिक्षक की सार्थकता है।

अस्तु विद्यार्थियों की योग्यता के अनुसार मानवीय चेतना विकसित करने हेतु एवं शिक्षकों की सार्थकता प्रमाणित होने के उद्देश्य से 'चेतना विकास मूल्य शिक्षा' के पाठ्यपुस्तकों को लिखा गया है।

हमें विश्वास है यह पुस्तक इन अर्थों को प्राप्त करने में सफल होगा।

चेतना विकास मूल्य शिक्षा की पुस्तक प्रथम बार लिखी गई है अतः इसमें सुधार की अपार सम्भावनाएँ हैं। विद्वान अध्यापकगणों से इस हेतु सतत् मार्गदर्शन की अपेक्षा है।

लेखकगण

प्रथम संस्करण की भूमिका

चेतना विकास मूल्य शिक्षा पर कक्षा 1 से 5 तक पुस्तक 2009 में लिखी गई।

प्रथम बार पुस्तक लिखने तथा अल्प समय में इसे पूरा करने के कारण व्याकरण संबंधी एवं टंकण संबंधी भूल भी रही। कक्षा 1 से सभी पाठ कविता में हैं। एवं कविता में तुकबंदी का अभाव था।

प्रथम संस्करण में शिक्षा की वस्तु को यथावत रखते हुये व्याकरण में सुधार किया गया है एवं कविताओं में तुकबंदी पर थोड़ा ध्यान दिया गया है। कुछ तकनीकी से संबंधित पाठों को हटा दिया गया है।

हमें विश्वास है पुस्तक विद्यार्थियों के लिए सुबोध होगा।

लेखकगण

अनुक्रमणिका

भाग	पाठ	नाम	पृ. संख्या
1. मानव लक्ष्य	पाठ 1	मानव लक्ष्य	
2. समग्र अवस्था	पाठ 2	अस्तित्व	
	पाठ 3	पदार्थावस्था	
	पाठ 4	प्राण अवस्था	
	पाठ 5	जीव अवस्था	
	पाठ 6	ज्ञान अवस्था	
3. अखण्ड समाज	पाठ 7	परिवार	
	पाठ 8	मानव संबंध	
	पाठ 9	मानव समाज	
	पाठ 10	सामाजिक पूरकता	
4. सार्वभौम व्यवस्था	पाठ 11	जीवन क्रिया	
	पाठ 12	जीवन व शरीर में संबंध	
	पाठ 13	दृष्टा	
	पाठ 14	रूप, गुण स्वभाव धर्म	
	पाठ 15	जीने के चार आयाम	
	पाठ 16	समझना, सीखना, करना	
	पाठ 17	उपयोगिता मूल्य	
	पाठ 18	आवश्यकता से अधिक उत्पादन	
	पाठ 19	मानव शरीर	
	पाठ 20	विहार	
	पाठ 21	समय	
	पाठ 22	मानव इतिहास	
	पाठ 23	सुखी सुख बाँटता है।	
	पाठ 24	सभ्यता	
	पाठ 25	उत्सव	

वंदना

वंदना उनकी करें, जिनसे सुशोभित है धरा ।
जिनसे है मानव का पथ, प्रकाश ज्योति से भरा ॥

जिनसे दिशा हमको मिली, नित मानवीय मार्ग की ।
पथ मिला निश्चित हमें थी, कामना जिस मार्ग की ॥
कृतज्ञता से सौम्यता की, नित्य आयी निरंतरा ।
जिनसे है मानव का पथ, प्रकाश ज्योति से भरा ॥

जिनका है चिन्तन शुभ यही, कैसे हो मानव सुखमयी?
प्रेरणा से जिनकी है, मानव का जीवन सुखमयी ॥
श्रद्धा समर्पित जिनसे आए, मानवीय परम्परा ।
जिनसे है मानव का पथ, प्रकाश ज्योति से भरा ॥

सबके सुख की कामना ले, रहती जिनकी कल्पना ।
निकली जिनसे मानवीय पथ, हेतु निश्चित योजना ॥
पूज्यता उन हेतु जिनसे, है सुसज्जित वसुन्धरा ।
जिनसे है मानव का पथ, प्रकाश ज्योति से भरा ॥
—प्रदीप पूरक, बिजनौर (उ.प्र.)

tāĀw vŌu

tāĀw Sýa vŌu ytāŌā, ytā-, i su i ā yŌ- i Ōmāw Nēn cýqŌt qāveSýŌā; ātqā; ā ytl j Sý Nān ZāuSý
tāĀw Sýa vŌu uŌā Nēn cýāv¥ ysā tāĀw Sýa vŌu ytāĀ Nē, ysā tāĀw Sýa vŌu ¥Sý Nā Nēn

ytāŌā ZāuSý tāĀw Sýa vŌu Nēn ytāŌā Sýa i neNeytl qāā NākaĀā n ytl qāā ĀāNāNāqē tāĀu ytŌuā
ā Ōm Nānā NēwāĀā Nānā Nēn ytāŌā ZāuSý tāĀw Sý āv¥ ¥Sý Nā Nānā Nēn kōçāāam tē2 i ā 2 Sýa uāāy 4 Nānā Nēn
uŌ Ellāē ysā tāĀw Sý āv¥ ¥Sý Nā Nēn cýā ZāSýā qāwā yāueSý j āā; ā i āmā Nē uŌ sā ysā Sý āv¥ ¥Sý kōyā Nānā Nēn

ytāŌā Sýsā sā rĀvmā ĀāNā Nē ysā Sý āv¥ ¥Sý kōyā ĒNā Nēn ysā tāĀw ¥Sý-ĀyĒçç yān ūwNāē SýĒmçNān
i °2p ūwNāē SýĒāqē tāĀw yāā NānçNān i °2p ūwNāē ysā tāĀw Sý āv¥ ¥Sý kōyā Nānā Nēn i °2p ūwNāē ytl tē; āā
ytāŌā Nēn

cýā ZāSýā tāĀu Sýa kv, wāuā; ā ātSp Sý yān yŌ Nēn cýcytl Āā ytāŌā Nēn tāĀu Sýa qāp-qāçç yān
sā yŌ Nēn uŌ yŌ āāŌ j m Nē; ā rĀvmā ĀāNāNēn cýcytl kĀā ytāŌā Nēn ysā kāv kĀmā āSý yān tāĀu Sýa
āāŌ j m yŌ Nēn cýcytl Āā ytāŌā Nēn

tāĀu Sýa vŌu ytā- Nēn ytā- Sýa i neNē- Ntāā; āwŪuSýmā SýāŌt qāā SýĒ ĒNçNān i āwŪuSýmā Sýāqēā SýĒāç
Sý āv¥ ĀāçĒāSý Nā- Zant ĒçqāĀā Ōāā ¥wāŌmāu ywā Ōāā n

ĒçqāĀā Sýa i neNēSýāç; āwŪuSý wŌmāSý āātāā tēsaāāā SýĒāā n kōçāSýyāā i Āā ĒqkāmçNā SýçĒuāŌy
we āātāā tēsaāāā SýĒmçNān Sý²pvaçary, 1pā, SýĒ Sý ĒçqāĀā tēsaāāā SýĒmçNān ¥ççNā i ĀāSý ZāSýā ç ĒçqāĀā
SýāueZaj āvm Nān

ywā Sýa i neNē tāĀw tāāē uā tāāē Sý āv¥ Ēquāā wŌmāSýl yĒŌā SýĒāā n kōçāāā tēj āpvaāqē ĒySýa
Ēqj ā SýĒāā ywā Nēn cýā ZāSýā rāvSýāpāā sā tāāē Sýl yĒŌā i ā ywā Nēn tSýāā Sýl qmāç-āvqāçSýĒāā, āāp Sýl
tĒĒtm SýĒāā, Sýqāp Sýāçāā; āā rNān yçSýāueNākĀNē ywā SýNmçNān

cý ZāSýā ytā- Sý āv¥ i ĀāSý ZāSýā Sý ĒçqāĀā; ā ywā SýāueNān Sýāçsā Sýāuej āā cýSýa āy v ytā- Nā Nānā
Nēn

ZāuSý tāĀu su yçtŌy NāSýĒ āwŪuway qāçç kĀā j āNā Nēn cýç; su SýNmçNān uŌ ysā tāĀw Sýa vŌu Nēn
qāēwā tēwpytāk tēkĀāSý āāt Sýl ytl Nāāqē Ōt i su qāçç kā ySýmçNān

ZāuSý tāĀw wāuā kv, ātSp, qāp-qāççw kāv-kĀmāSý yān kāmā Nēn i SývçSýāçētāĀu kā ĀāNāySýmā n tāĀw
ytāk i ā tāç māāā; wŌnā; āSý yān kĀā Nā yŌ- i Ōmāw Nēn

cý ZāSýā uŌ Ōq~p Nānā NēāSý ysā tāĀu Sýa vŌu ¥Sý Nā Nē ytāŌā, ytā-, i su i ā yŌ- i Ōmāw n uŌ
¥Sý āāāā Sýa vŌu Nē ¥Sý uāā Sýa sā ¥wāwā- Sýa sā vŌu Nēn tāĀw vŌu ytāĀ Nēn

qə'p - 2

i 0m³w

i sāmSý ņt uŋ ytl j 8ý ņāSý i 0m³w tē2 ZāSýĒ Syl y°j acēNē Zant - i āSyalā uā ņāu Ƴwbaōmāu - i āSý^{aā}ņ-Eq^{aā}ņ i āē māēn i āSyalā Sýa Sýacē; āē 2pē āāņāNē uŋ i yāt ņēn i āSyalā ZāuSý ĆSýacēSý sāmē sā qauā kāmā ņēn i mē ĆyĆluāqSý sā SýņmĆņān

ņt uŋ sā ytl j 8ý ņāSý i āSyalā tēysā^{aā}ņ ƳwbaēĆ^{aā}mņāv ņān uĉ^{aā}ņ-māē; āSyalā yĉrāņē kā ņā āāņāySýmĉ ysā^{aā}ņ ƳwbaēĆSý ysā i āē ņāu ņēn i mē ysā^{aā}ņ ƳwbaēĆluāqSý i āSyalā tēp^āņcņņē ņān āSýyā sā āā^{aā}ņSý raj tēņāu (i āSyalā) ņēn ņāu ņāāSý Sýāē 1/2 ņā uĉ; v^{aā}- i v^{aā} āāhmĆņā ņ ņāu ZāuSý ĆSýacēSý ysā i āē ņēn ņāu ņā ZāuSý ĆSýacē Sýl yātā ņēn

ņāu qāēĀlā ņēcyāv Ƴ cytēņĀāwāvā ysā ĆSýacēuĉSýāņt āh ySýmĆņān māē^{aā}ņ-Eq^{aā}ņ ysā ĆSýacē ņēn ĆSýacēuĉSý ytl SýāZāSým SýņmĆņān

ņāu, luāqSý, i āSyalā hāvā ņnāā uā ņnāā ƳSý ņā y°j acēSý i v^{aā}- i v^{aā} āāt ņān ZāSým i āē luāqSý yān- yān ņān uŋ yŋ- i 0m³w Sýņvāmā ņēn

qə'p - 3

qĀānē i wĀnā

qāvēSyl Sýōā; ātēuŋ ņt ytl j 8ĉ ņāSý qĀānē; wĀnā tēātSŋ qĀā Ƴwbaūā; āmĆņān qĀānē; wĀnā Syl ysā ĆSýacēuĉSý i āj ē 1/2 āāņj m ņēn qĀānē; wĀnā luwĀnā tēņān qĀānē; wĀnā tēqņj āāāƳwbaūāņ SýēāSyl āSýuā ņānā ņēn

māra i āē kĀmā āāāāā oāmāņņān Ćā āāāāSý i āj ē 1/2 āāņj m ēņmā ņēn kr Ćā āāāāā oāmā āSýāqī vāSýē ƳSý āāņj m i āāāā tēāt vāmĆņāāā ƳSý āāēwĀmāāt vāmā ņē cyĉqām v SýņmĆņān cyĉmāra i āē kĀmā Sýā ātō oāmāā SýņmĆņān qām v Sýā i āj ē 1/2 sā āāņj m ņānā ņēn cy ZāSýĒ kr āāņj m i āj ē 1/2 wāvĉāāuā āāyĉ; āoSý qĀānēāt vSýē i āu wĀmā rāāmā ņē mr sā ēy āāēwĀmāSýā i āj ē 1/2 āāņj m ēņmā ņēn māra i āē kĀmā āt vSýē qām v rāāmā ņēn uŋ āSýuā sāmsý āSýuā Sýņvāmā ņēn

ƳSý i āu ZāSýĒ Syl āSýuā qĀānāwĀnā tēņānā ņēn cyĉēyāuāāSý āSýuā SýņmĆņān kāyĉSýāuvĉSýākvāāqē i āā qĀā ņānā ņēn cyycēĪtā āt vāmā ņē nāpīyā oĪ ā ņānā ņē; āē i m tēnāpīyā ēāh rj mā ņēn Ƴyā ņē rāē ņānā ņēn cyycuŋ āāĪ SýxēāāSývma ņēāSý ēāyāuāāSý āSýuā Sýā qāēZāt āāņj m ņānā ņēn

cy ZāSýĒ qĀānē; wĀnā tēysā ĆSýacēuĉSýā i āj ē 1/2 āāņj m ņānā ņēn ZāuSý āSýuā Sýā āāņj m qāēZāt ņānā ņēn cyāv Ƴ qĀānē; wĀnā SýāqāēZāt i āākpā luwĀnā SýņmĆņān qāēZāt i āākpā luwĀnā Sýā i nēņēqāēZāt Sý qāp j vāāwāvā luwĀnā

qĀānē; wĀnā qāēZāt i āākpā luwĀnā ņēn

kavāSya ; aj Êva wīlāAakPauma qivSy āADj m ÊNma Nēn ¥Sy qāwyc; āat qāw mÊ qNj ma ÊNma Nēn cytēSya sā
 Syāc ēra āāNā Nāma Nēn uN āADj m Nāma Nēn uN luwDna Nēn

Ñè-

- Cy qāṭ tēnt kawāā āšjua ; æ lāæ āšjua šyaawdmæ ycyt | Þæn

uaA SjaeSjaueSyEmcytu NtaEa Nan asyYa aatewDmatE j j aASj 2p ka# maNan mEm N1p kaNa Nen cytyaj -
E aAa u vaASja ytu AaNa ENma n uN asyua wcyNa NaNa NekyDmbw asyua n anOaA Syl saxa tEcyZamwml asyua
i

cYšȳ awqē m sã Nãmã Ñekaycyā qōb̄ Ñã Ey qē qē qōb̄; ã uñ awj ã ; ã šy wñ Eðyã Ñemr qē Añã E°mã n uã
E ; ã šy yã Ñemã qē mĕ Ām E°pkãmã Ñeñ

tāĀāq.wāvā ¥wĤkĀĀāq.wāvā Nā KāwĀ SýN.vamā Nēn tāĀw tĤkĀĀāq.Sýl Ōāt.mā Nāmā Nēc.yāv ¥ tāĀw Sýā.ŌāĀ ; wĐnā

Çy Za SyaÊ Syl ramê Sya Dwupka! SyÊ Añ AaÑ Nea Sy Nt Yya Sya EmcÑe? ua AaÑa!ñ

kāv ; wĐnā wġāġā Pā lūwĐnā Nēn ysa kāv ; qĀā:īāē Sȳar-Āāē Eh-Āā:Sȳ āv¥ kānçNēn yaē Sȳauē:ya Eōū Sȳ mçNēn CytēSȳsā sā āvma ĀāVāSȳEmçn Cyāv¥ kāv lūwĐnā tēNēn kāwēSȳ:lūwĐnā tēkaĀā:Sȳ āv¥ āīāōā Syl yma ĀāVāNēn

ălăŏă sŭ ălă tăăw yŋă sŭăuê yŋă lăwŋă sŭăy t l gămă Nĕn ălăŏă ălă Nă lăă sŭă DwĐn rĂăw Ēŋă sŭl ăwăo

qāwāƎ ƳSj yĒrĀo ZāāAa ytāN Nēn tāma-āqma ƳwbymaAa Sjā yĒrĀo kĀt yqNā Nāma Nēn uN yĒrĀo tāuamSj rĀa
Nā ĒNma Nēn ālāāSj kĀt Sj ytu yqNā tāma-āqma ƎySyl ywā; āwĪuSjma Syl qamē Ǝlāt ālāāAa Syl ĪuwDnā SjƎmēNāN Sj2p
wxāSj rĀa ālāāuāwā rĀa kāmēNā Ƴwbtāma-āqma wā- Nā kāmēNāN wā- āwDnā tēĪāƎ; ĪāQy Nā kāmā Nēn rāj - rāj tēĪāAa Sjā
; āSj2vā Nāma ĒNma Nēn Ƴycty tēyĀmaAa tāma-āqma Syl ywā SjƎmēNāN ƎĀāSj sākĀā Sjā Zarb SjƎmēNāN ƎĀāSj āvƳ
āj āSj2yā Sjā Zarb SjƎmēNāN uN Sj2t qāqā yqāqā mSj j vma ĒNma Nēn uN yĒrĀo āSjā āAwāĪ SjNvāma Nēn yĒrĀo āSj āAwāĪ
yq; āqy tēwĪway Nāma Nēj Ǝ tāAw yā ĒNmcNāN uN āAwāĪ Aāāqōā āqy Nāma Nēn uā Sjā āqōā āAwāĪ SjƎĀā tēSj2tā SjƎmē
Nāma Aāāqōā āAwāĪ NāmcNāN

qáEwáE təkáá awíway áAaváN Sý ; áaE qE Nana Nen uN qáEwáE Sýa ywáoSý tNáwáE Sapa Nen uN íuwNáE SýNvama Nen ZáuSý álaáE y íuwNáE Sý áAaváN tēyOat NáySý cy Nmatama-áoma CAsý álaOá Sýa Zarb SýEmçNán

qāwā tēāyēā tñ³wqāēsyāuēyāwā nēn ywā syāuēzāmāāā nāmā nēn cy tēsyā ; w syāā āā nāmā n y rēctō oāā sy
 āv¥ qāāā syl ; āwīusymā nāmā nēcyāv¥ qāāā syāqñvycyā nā vāsyē ēhmēnān qāāā ; āōsy vērcy tu m sy ēhā ēnāāy c
 zāāxm nācāmā nēn ; mē qāāā syāāā- syēāā syā ēqāu syēāā qāpmā neuā āāā u qāāā vāāā syā zāā syēāā qāpmā nēn tñ oāā
 sy qīj āmī āō uā sy²p kvqāā syl ; āwīusymā nāmā nēn zāmāāā yā n mākā āō zāām syēāā sy āv¥ āāu syl ywā syēmcā
 ¥wā āō āāsyāvmēnān kvqāā mēē syēmcācy sy qīj āmī qāāā syqāpē mēē syē oācñā yāy syqāpē nāmēnān qāāā syqāpē
 syāōācñān r māā tēkvqāā syē ēāñōācñān cy zāsyā yāā āāā yāyācē sy, w d m ā d sy yēōāā sy, sāāā āātāā sy āv¥
 syāuē syēmcān ucr nēn yāē syāuē sy lūāōy āāāā syē ysymā cyāv¥ yāā qāwā āt v syē cy syāuē syā syēmcān uñ qāwā
 syā ¥ sy ; āāwāuē syāuē nēn ywā syāuē tēāāāāāā syēāā y c qāwā tēāuē ¥wāyē tāāā āt v mā nēn

luwyau qe'wae sya'ysy ; ae tN'wqae'wp ; aawauesyau'syt Nen luwyau sy o'e'a Na'ntae'ay ; aw'usy wdmq a
 syl ; aqame'Nan Nen ; aw'usy wdmq a'tesak'aa, we, ; away, ; akao, co'aa, Ae'at'aa sy yao'aa, Ae'at'aa y'wpa'e'ow'a sy
 yao'aa ; Aa'sy za'sya'e sy u'ba ; am'e'Nan caa'sy aa'ta'a tes'a'aa'e sy e'aa'e' q'aa'a sy n'vama' Nen qe'wae sy sy'p'wu'dsy ya'du
 luwyau o'e'a ; aw'usy wdmq a'sya'za'm sy em'e'Nan ot sy o'e'a Na'ya'e'luwyau ya'v Nam'e'Nan

ālāŌā qāwāē Šyā ¥Šy tN³avqāēŠyaušyt Nēn 2^hpr^oj āŠyārāvāā, j vāā, sākāā Šyēāā, j qāā: tēē Syl yāyācē
 wDmā āŠyl yēŌā, rāp^hŠyā yē tāā, ytwuBŠyāyēŌā, ^aāUKāāyāyāhāāŠy āv ¥ŠyŠymāucyr qāwāē tēNāDwašym Nānc
 Nēn 5-6 wxēŠyā ālāākr Zant rāē āwūavu kāmā Nē mr ēyŠy tāā tēytI āāw yāhāā:Šyl āKŌāyā Nānā Nēn wN ^aāUKāā
 Šyl j āŌāqāvāā Syl Zawāā yēqāāā ēNma Nēn uN yr ŠyNāyc; amā Nē? ālāāŠyl c y tāāyŠymā Šyāmēāē Šyēāā: tēqāwāē Šyā
 Nā sātŠyā Zāāā Nēn uN ālāŌā Šy āv ¥; j āwāwē sātŠyā Nēn

ZāuSý ÍuáQý ÐwÐn ÊÑÁ:qÊ ; ÁuuÁā tĕtÁā v^{aa} ySýmĉÑā Sýaueyah ySýmĉÑā Íuwyau w ywā tĕsāāAāEā SyĒ
ySýmĉÑān ÐwÐn ÊÑÁ:Sý āv¥ ¥Sý āāŦj m kāvÁā Íāvā Sýl ; āvÍuSýmā Nāma Nēn uŦ Nt qĕwĕ tĕNā ytÍ Áā ZāEā SýĒmĉÑān

cy Zsɣɛ tʰaʌv sɣ yɪŋqʌv sɣ kʰaʌ sɣa ɖnaʌ qʰwɛ sɣnvaŋa nɛŋ qʰwɛ tɛkʰaʌ sɣl uʌ ʌma ʌv sɣaɪm sɣɛʌ sɣ
ʌv ɪwɪnʌ ɪwɪnʌ ɪwɪnʌ ; ʌʌvaʌ sɣa sɣt nɛŋ

qà'p - 8
tà'Aw yÈr'Áo

Nt ysá qá'wá' tēkám'Nān qá'wá' tēN'Áa'wá'v'cysá'íuá'Qyuá'Syá'Áat Nt ká'Áam'Nā'w'p'É'Áa'Syá' yān Ntā'Éa' uá'yÈr'Áo
Nē'Éy'c'sá'q'Nj' á'Áam'Nā'w'p'É'y'Syá ; Á'á'yá' Nā'yÈr'Áom Sy'Ém'c'Nān c'y'Syá ; vā'vā'qá'wá'É' Syá' ysá'íuá'Qyuá'tē ; á'qy' tē'Syá'Áa'-Syá'Áa'
y'c'yÈr'Áo Nē'c'y'c'sá'Nt q'Nj' á'Áam'Nān

tā'mā-áq'mā' 2'p'p'r°j' á'Syá'qā'v'Áa'-qā'x'1/2' Sy'Ém'c'Nān É'Á'N'c'y'É'Ó'á'1/2' Á'm'c'Nān y'É'Ó'á'1/2' Syá ; nē'Nē'y'sá'Zām'Sj'v' wā'mā'v'É'1/2' y'w'p'
w'Đmā' á'p'y'c'y'É'Ó'á' Zā'Áa'Áa' Sy'Ém'c'Nān tā'mā -áq'mā' Sy'l' m'É'N' Áa'Áa'-Áa'Áa', tātā'-tātā', Áa'Áa'-Áa'Áa', Syá'Syá'-Syá'Sy'l', tā'yā'-tā'yā',
Áā'Áyā'-Áā'Áy'l' y'w'p' ; Áu' ysá' rō'p'r°j' á'Syá'qā'x'1/2', y'É'Ó'á'1/2' y'w'p'á'í'Ó'á' Zā'Áa'Áa' Sy'Ém'c'Nān qā'x'1/2', y'É'Ó'á'1/2' y'w'p'á'í'Ó'á' qā'Sy'É' Zā'1/2' Sy' á'í'á'í'á'
tā'Aw' r'Áa'Áa'Sy'l' ; á'É' ; á'y'É' Nā'mā'Nēn

qá'wá'É' Syá' rā'Nē' sā'Nt ysá'vā'á'Syá'yÈr'Áo'á'Syá' Ó'á'Éa'Nā'yÈr'Áom Sy'Ém'c'Nān Áa'Áa'-Áa'Áa' Syá' á't'á'Syá'Nt Áa'Áa'-Áa'Áa'
Sy'N'Sy'É' yÈr'Áom Sy'Ém'c'Nān c'yā'Zā'Syá'É' tā'mā-áq'mā' Syá' á't'á' ; á'É' y'twu'Đ'Syá'á'Syá'Nt tā'mā' y'w'p'á'q'mā' mā' u' tā'Áam'Nā'mnā'yÈr'Áom
Sy'Ém'c'Nān

áv'uá'v'u' tēkā'á'á'Úkā'Ntēq'á'Á'm'c'Nā'É'Á'N'p'Nt á'á'Úkā' ; n'wā' ; Áuá'q'Syá' ká' y'w'p' ; Áuá'q'Syá' ká' Sy'N'Sy'É' yÈr'Áom Sy'Ém'c'
Nān áv'uá'v'u' tēq'á'Áa'wá'v'cysá' á'á'Úkā'á'Syá'sá' á'á'Úkā' ; n'wā' ; Áuá'q'Syá' ká' y'w'p' ; Áuá'q'Syá' ká' Sy'N'Sy'É' yÈr'Áom Sy'Ém'c'Nān

áv'uá'v'u' tēNtā'É'c'yān q'Á'Áa'wá'v'cysá' áv'uā'n' á't'á'Nā'm'c'Nān c'yā'Zā'Syá'É' Ntā'É'c'2'p'p'sá'c'ú'á' y'w'p'r'Nā'á'Syá' yān q'Á'Áa'wá'v'c'
mnā' rō'p'sá'c'ú'á' y'w'p'r'Nā'á'Syá' yān q'Á'Áa'wá'v'cysá' áv'uā'n' á't'á'Nā'm'c'Nān á't'á'Syá'Nt s'ú'á' y'w'p'Áa'Áa' Sy'N'Sy'É' yÈr'Áom Sy'Ém'c'Nān

qá'wá'É' tē'sá'c'É'-r'Nā'Áa'Syá'yÈr'Áo Nā'mā'Nēn u'Nā'yÈr'Áo qá'wá'É' Syá' rā'Nē' á't'á'yÈr'Áo'Áa'Sy'N'vā'mā'Nēn á'ky'Zā'Syá'É' sá'c'É'-
r'Nā'Áa' y'Syá' Áā'y'É'c'Syá'y'N'ú'á'á' Sy'Ém'c'Nā' yān á't'v'Sy'É' h'y'm'c'y'w'p'q'Á'Á'm'c'Nē' É'yā'Zā'Syá'É' á't'á'sā' ; á'qy' tē'yān'-yān h'y'm'c' q'Á'Á'm'c'
y'w'p'y'N'ú'á'á' Sy'Ém'c'Nā' ; á'É' q'É'Đ'q'É' s'ú'á'-Áa'Áa' Sy'N'Sy'É' yÈr'Áom Sy'Ém'c'Nān

qáwəSyl SýŌā; ǎtɛ́Nt ánt ʔwəÁáʔÉ Sý rǎčtɛ́qɔ́pNān ánt ʔwəÁáʔÉ ; h¹»ptáAw ytak Syl ²pɪp-²pɪp cSyacéNeñ
qəwə Sý ysá táÁaw ‘táÁaw ytak’ tɛ́kámçNān

ʔant ʔwɔʔaʔaʔ tɔtɔ ; mɛ kʔaʔpua sja ɲa ɲama ɲen ʔant tɔsɪt ʔwɔʔaʔaʔ tɔtɔ ; ʔosɪ kʔaʔpua ɲama ɲen ʔant ʔwɔʔ
 ʔaʔaʔ tɔʔaʔaʔ ; ʔmɛ ; ʔkʔaʔsja sɪ mɛʔsɪ sjaʔvɪʔ ɲama ɲen ʔant tɔtɔʔumb sɔx, qɪʔaʔvʔa ʔwɔʔsɪ ʔɛ ʔuʔa sɪ sjaʔuɛʔaʔ
 ɲan ʔaʔaʔ tɔtɔʔumb vi ʔʔuʔa, wɔmi ʔuʔa ʔwɔʔaʔaʔ u sɪ sjaʔuɛʔaʔ ɲan ɪʔx ysʔa sjaʔsɪt ʔant ʔwɔʔaʔaʔ tɔʔtaʔa ɲaʔɪʔɲan
 kɪʔ- ʔant tɔsɪʔ ʔwɔʔ sɪ ʔaʔaʔ sjaʔ sɪ tɔsɪʔa ɲaʔɪʔɲan ʔa ɲa ʔaʔaʔ tɔsʔa ɲama ɲen ʔant ʔwɔʔaʔaʔ tɔʔuʔu, hɪ sɪ
 tɔʔaʔa, ʔwɔʔ ; u sɪʔo, yɔʔsɪ, kv ʔwɔʔuʔu sja ʔaʔo ɲama ɲen

aat ƳwbaaƳ tɔ̃AaZatɪn ; AmE NaɲɔNɔE ySɪ ; aɔƳ qE kaWAA ɪãṽa tɔ̃SɪʔpasAAama Nãma Nẽn kyɔ̃ãw tɔ̃ṽuaṽu
i E Sɪ qay Nãma Nẽc̃yaṽ Ƴ aṽuaṽɪn Ƴwɔ ; AuaqSɪ qAṽ Na ; amɔNɪn AaƳ tɔ̃ṽuaṽu ; AaSɪ i E Sɪ qay Ƴwɔ ; AaSɪ i E yɔ̃AƳ
Nãma Nẽn AƳ yɔ̃ ; Aãwaw̃c̃aṽuaṽɪn Ƴwɔ ; AuaqSɪ aSɪya waNAA tɔ̃rɔ̃pSɪE ; amɔNɪn Cỹa ZaSɪE ; ak̃aw̃Sɪya Sɪ ; aɔƳ qE sa Sɪʔp
asAAama aAhm̃a Nẽn

[illegible]

qEawIw tEtAaw ENmCnN k^aaN-k^aaN qE sEawSj sA^aAmA^aYNama^aNn k^aycSyC^aDNa^aaqE wxetE8-9 taN rAq ktA
ENma Ne SyC^aDNa^aaqE Em Na Em Nama Ne CAnE^aEp^amaAa SyNmCnN CyA ZaSyE taAa^a ZaAa, qwenau ZaAa, ytom¹pu ZaAa
i aa n CAa ysA^aDNa^aaqE ENa^aSj mEa^aSj tAsA^aAmA^aYNama^aNn qEAmaysa^aDNa^aaqE tEtAaw yErAo^ate^ayw^aluwDna tEkaAaSyA
1/2paY^aSj k^aya^aNama^aNn taAaw, taAaw tEkaSyE Yw^aluwDna tEkaSyE yInaYw^aZayA^aAmA^aNn CyavY taAaw yIno Yw^aluwDna
yIno tN³AwqE^aNn

tAav ytak tēkāmcytu yr ¥Sý AáyEcSyl tAA SýEmcNān kȳc²hēpālāāSýaj vAāyhaAaSý av¥ ; AaSý vāpā tAA SýEmcNā rāAāyhaAaSý av¥ sā vāpā tAA SýEmcNān ytl Aā rAāAaSý av¥ ālāāSýāwāvu sēmcNāwNā ; AaSý ālāOaSý SýcēwāxmSý EāNēytl Aā NāāSý av¥ ZāVā ¥wāAīā AmcNān ucyr qēSymā SýNvāmcNān

taAv ytak tSycEzaSyE Syl qE Syma aAhma Nekyc- NtaEcyqAbAyEcDnaAatE; AaSy va'a atvSyE rAamcNan
EAnE Nt kaAmcEwqNj AAmcsA AAna Nan CyA ZaSyE Syvt, qDmSh, Syca, rDma, kanc takE tSjaA, aabj; aa ucysawDmaY
; AaSy va'a ot SyESu meiaE SyEmcNan

आंखों से जो पहचान आता है। उसे रूप कहते हैं। उदाहरण के लिए हम एक गेंद को देखते हैं। उसका गोल आकार एवं रंग हमें स्पष्ट होता है। इसे रूप को पहचानना कहते हैं।

हम अपने माता जी और पिता जी को देखते हैं। दोनों का आकार अलग अलग पहचानते हैं। यह अलग अलग हम रूप के आधार पर पहचानते हैं। इसी प्रकार हम एक छोटे शिशु को देखते हैं। वर्ष के बाद पुनः उसे देखते हैं। तो पाते हैं कि उसका शरीर बड़ा हो गया है। मुखकृति में भी बदलाव आ गया है। इसी प्रकार हम अपने शिशुकाल के चित्र को देखकर भी समझते हैं। कि हमारे शरीर का रूप बदलता रहता है। घर में लगे हुए छोटे पौधे का रूप भी बदल जाता है। इस प्रकार रूप समय के साथ बदलता रहता है

हम सबने नीबू के फल को देखा है। नीबू के रस को यदि दूध में मिलाया जाता है। तो क्या होता है। दूध फट जाता है। इसे नीबू का गुण कहते हैं। इसी नीबू के रस को तांबे या पीतल के बर्तन पर डालकर रगड़ा जाय तो वह बर्तन चमकने लगता है। चूने के घोल में यही रस डाले तो चूने का काटने वाला गुण समाप्त हो जाता है। इस प्रकार हम समझते हैं। कि नीबू का रस अलग-अलग परस्परता में अलग-अलग प्रभाव देता है। इसे हम कहते हैं। कि गुण परिवर्तनशील है। इस प्रकार रूप एवं गुण समय और स्थान के साथ बदलते रहते हैं।

रूप एवं गुण के अलावा स्वभाव एवं धर्म भी प्रत्येक इकाई में पाया जाता है। स्वभाव एवं धर्म निरन्तर एक जैसा रहता है। व्यवस्था में भागीदारी करना किसी इकाई की मौलिकता है। यह निरन्तर एक जैसा रहता है। पदार्थ अवस्था की सभी इकाईयाँ अनेक छोटे छोटे कणों का संगठित रूप होते हैं। इनमें टूट-फुट होते रहते हैं। इस प्रकार ये निरन्तर संगठन विघटन क्रिया में रत रहते हैं। पूरे पदार्थ अवस्था का स्वभाव एक ही होता है :- संगठन-विघटन।

यदि पत्थर का एक टुकड़ा लेकर हम इसे कूटें तो यह छोटे छोटे टुकड़ों के रूप में हो जाता है। और अधिक कूटे तो बिलकुल महीन हो जाता है। और बहुत अधिक देर तक कूटें तो क्या पत्थर का चूर्ण कूटते-कूटते समाप्त हो जाएगा? नहीं यह समाप्त नहीं होता। इसी प्रकार कोयले को जलाने पर धुआँ निकलता है और कुछ राख बनता है। कोयला भी किसी भी तरह समाप्त नहीं होता। इसका रूप एवं गुण बदलता है। इसका अस्तित्व समाप्त नहीं होता। अस्तित्व पदार्थ अवस्था का धर्म होता है। धर्म का अर्थ है। किसी इकाई से विलगीकरण न होना, हमेशा बना रहना।

प्रकृति की प्रत्येक इकाई रूप गुण स्वभाव एवं धर्म होता है। यह चारों अवस्थाओं में होता है।

.....

मावन को हम निद्रावस्था में विश्राम करते हुए देखते हैं। मावन जगे रहकर भी विश्राम करता है एवं जगे रहकर कार्य भी कर सकता है।

हम भूख, प्यास, निद्रा, ठंडी, गर्मी को पहचानते हैं एवं इसे सहने या इसके निराकरण का प्रयास करते हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि जीवन शरीर का ध्यान रखता है। शरीर की आवश्यकता को पहचानता है एवं इसे पूरा करता है। जब हमें मच्छर काटता है। तो उसे उड़ा देते हैं इससे स्पष्ट होता है कि जीवन शरीर का ध्यान रखता है।

अब हम निद्रावस्था का स्मरण करें। यदि निद्रावस्था में प्यास लगती है तो क्या करते हैं? उत्तर है उठकर पानी पीते हैं। नींद में ठंड लगी तो उठकर कोई कपड़ा ओढ़ते हैं। मच्छर काटे तो मच्छर उड़ाते हैं एवं उस स्थान को सहलाते हैं। बिलकुल ऐसा ही जगे अवस्था में भी करते हैं। निद्रावस्था में किसी व्यक्ति को नाम लेकर पुकारने पर वह उठता है। क्या निद्रावस्था में व्यक्ति सुनता है?

हम देखते हैं। कि जागरण अवस्था की तरह ही जीवन निद्रावस्था में भी शरीर का ध्यान रखता है। अपने नाम एवं सम्बन्धों का ध्यान रखता है। अतः जीवन सोता नहीं है। जीवन निद्रावस्था में नहीं रहता। निद्रावस्था में तो शरीर रहता है। जीवन जागता ही रहता है। चाहे जागरण अवस्था हो या निद्रावस्था। जीवन हर समय शरीर का ध्यान रखता है। इसे हम कहते हैं कि जीवन शरीर का दृष्टा है। सम्बन्धों का दृष्टा है। एवं जानबूझकर करने वाले कार्यों का दृष्टा है

दृष्टा का अर्थ है देखने और समझने वाला।

i kB-
thou eɪo 'kjɪj l s l EcU/k

हम इसे समझ चुके हैं। कि अपने आप होने वाली क्रिया एवं जानबूझ का होने वाली क्रिया प्रत्येक मानव में होती है। इन्हें हम क्रमशः शरीर व जीवन नाम देते हैं

अब हम यह समझने का प्रयास करेंगे कि क्या इन दोनों प्रकार की क्रियाओं का आपस में कोई सम्बन्ध है? क्या शरीर का प्रभाव जीवन पर पड़ता है? क्या जीवन का प्रभाव शरीर पर पड़ता है?

इसे समझने के लिए हमें अपने आप को ही जाँचना होगा। किसी दूसरे व्यक्ति को जाँचने की आवश्यकता नहीं है।

श्वास लेना शरीर की क्रिया है। क्या हम इस क्रिया में कोई परिवर्तन कर सकते हैं। उत्तर है हाँ। हम श्वास की गति को बढ़ा सकते हैं, घटा सकते हैं। इस प्रकार हम यह समझते हैं कि शरीर पर जीवन का प्रभाव पड़ता है।

क्या हम शरीर में बहने वाले रक्त की गति को बदल सकते हैं। इसका उत्तर है हाँ। इसके लिए हम हाथ पैर को जोर-जोर से हिलायेंगे या दौड़ेंगे तो शरीर में रक्त बहने की गति बढ़ जाएगी।

क्या हम शरीर में पसीना लाने की गति में कोई परिवर्तन कर सकते हैं? इसका उत्तर भी हाँ। इसके लिए हमें आग जलाना होगा इससे पसीना आने की गति बढ़ जाएगी पंखा या कूलर चलाएँ तो पसीना कम हो जाएगा। क्या हम शरीर में होने वाले पाचन क्रिया को तीव्र करने के लिए औषधि का सेवन करना पड़ता है। इसके बिना ऐसा होता नहीं है। अतः किसी निश्चित विधियों को जीवन समझकर ही शरीर को प्रभावित कर पाता है। अतः जीवन समझकर ही कार्य करता है। यह स्पष्ट होता है।

शरीर भी निश्चित विधि से प्रभावित होता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि शरीर एक व्यवस्था है। निश्चित विधि से कार्य करता है। इसमें परिवर्तन की विधि भी निश्चित है।

जब भी भूख लगती है तब हमें पता चलता है। इसी प्रकार प्यास, नींद का भी पता चलता है। प्यास, भूख, नींद ये शरीर के लिए हैं। ये जीवन को पता चलता है। इस प्रकार शरीर का प्रभाव जीवन पर पड़ता है। इस प्रभाव को पहचानकर जीवन कार्य करता है।

इस प्रकार जानबूझकर एवं स्वतः क्रियाएँ साथ-साथ रहती हैं। जीवन व शरीर दोनों का प्रभाव एक दूसरे पर पड़ता है।

.....

इसके पूर्व जानना, मानना, पहचानना एवं निर्वाह करना ये चार प्रकार की क्रियाओं को हम पहचाने हैं। जानबूझकर करने वाली क्रिया को जीवन कहते हैं। जीवन की ही चार क्रियाएँ जानना, मानना, पहचानना एवं निर्वाह करना है।

जानना वह क्रिया है जिसमें निरन्तर रहने वाली वस्तुओं और क्रियाओं को समझा जाता है। जैसे पृथ्वी निरन्तर धूम रही है। यह निरन्तर होने वाली क्रिया है। इसी प्रकार दूसरा उदाहरण है आकाश निरन्तर रहता है। इस प्रकार निरन्तर रहने वाली वस्तु और निरन्तर होने वाली क्रिया को समझते हैं। ये हर समय एवं प्रत्येक स्थान पर एक जैसे रहती है, बदलती नहीं है।

स्थान-स्थान पर बदलने वाली क्रियाओं को भी हम स्वीकारते हैं। तथा समय समय पर बदलने वाली क्रियाओं को भी हम स्वीकारते हैं। इन स्वीकृतियों को हम मानना कहते हैं। बदलने वाली एवं निरन्तर रहने वाली क्रियाओं को भी स्वीकार सकते हैं, मान सकते हैं। मानना भी जीवन की क्रिया है।

हम अनेक प्रकार की वनस्पतियों को पहचानते हैं, अनेक प्रकार के भवन, पत्थर, मिट्टी को भी पहचानते हैं। पहचानना में प एवं गुण प्रधान वस्तु है। दो मनुष्य को हम अलग अलग उनके रूप के आधार पर पहचानते हैं। कुत्ते एवं गाय की बोली को सुनकर ही हम उन्हें अलग-अलग पहचान दे सकते हैं। उनके रूप को देखने की आवश्यकता नहीं होती। पहचानना भी जीवन क्रिया है।

हम आम के फल को तोड़कर खाते हैं। घर को लीप-पोत कर साफ करते हैं। वस्त्र को पहनते हैं। गन्दे होने पर धोकर सुखाते हैं। बड़ों का सम्मान एवं सेवा करते हैं। ये निर्वाह करना कहलाते हैं। यह भी जीवन की क्रिया है।

जीवन में जानना, मानना, पहचानना एवं निर्वाह करना ये चार प्रकार की क्रियाएँ होती हैं। जीवन के अलावा अन्य वस्तुओं में केवल पहचानना एवं निर्वाह करना होता है

.....

आपका मित्र आपसे पेन्सिल मांगता है। आपके पास है तो आप उसे पेन्सिल दे देते हैं। आप दूसरों को वही वस्तु दे सकते हैं जो आपके पास है। जो वस्तु आपके पास नहीं है आप उसे नहीं बाँट सकते

अब निम्नलिखित दो उदाहरणों पर विचार करते हैं। प्रथम है आज माँ बहुत प्रसन्न है। उनका स्वास्थ्य अच्छा है। उन्होंने अपने सारे कार्य समय पर पूरे कर लिए हैं। वह सबसे प्रसन्नता से बातें कर रही हैं। उनसे बात करके सबको अच्छा लग रहा है। द्वितीय उदाहरण है मौसी आपके घर आई है। यात्रा के थकावट के कारण उनका स्वास्थ्य अच्छा नहीं है। सिर में चक्कर आ रहे हैं। उनका एक सामान ट्रेन में छूट गया उसमें बहुत सारे आवश्यक सामान थे। मौसी चिड़चिड़ाई सी लग रही है। बातें करने में मन नहीं लग रहा है। ठीक से उत्तर नहीं दे रही हैं। उनकी स्थिति देखकर आप सबको भी अच्छा नहीं लग रहा है।

प्रथम उदाहरण में देख रहे हैं। कि माँ के पास जो है उसे बाँटा। माँ प्रसन्न हैं इसलिए सबसे प्रसन्नता से बात कर रही हैं। सबको अच्छा लग रहा है। मौसी के पास जो है वह उन्होंने बाँटा वह असन्तुष्ट है तो उनके बातें व व्यवहार से हमको अच्छा नहीं लग रहा है। इससे यह स्पष्ट होता है कि जिसके पास जो होता है वह उसी को बाँटता है।

आपके पास 40 सन्तरे हैं आप अपने एक मित्र को 2 संतरे दे देते हैं। कुछ समय पश्चात कक्षा के सभी साथियों के साथ सभी संतरे बाँटकर खा लेते हैं। सारे सन्तरे समाप्त हो गए। क्या अब आप किसी को सन्तरे दे सकते हैं? नहीं।

आज विद्यालय में आप प्रसन्न हैं। कल के सभी गृहकार्य आप पूरे कर चुके हैं। समय पर कक्षा में आए हैं। सारे सहपाठी आपसे बहुत प्रसन्न हैं। आप सभी दिन प्रसन्न रहते हैं। विद्यालय से घर पहुंचने पर भी आप की प्रसन्नता वैसे ही बनी रहती है। हमारा सुख बाँटने पर कम नहीं हो रहा है। समाप्त नहीं हो रहा है। इससे यह स्पष्ट होता है। निरन्तर बाँटने की वस्तु सुख ही है। इस प्रकार सुखी सुख बाँटना है एवं दुखी दुःख बाँटता है।

.....

मनुष्य इस धरती पर हजारों व वर्षों से रहता आया है। इन वर्षों में मानव के जीने का ढंग बदला है। मनुष्य के उपयोग की वस्तुएँ भी बदली है। अनेक नई—नई वस्तुओं के तरीके भी बदले हैं। भाषा भी बदली है। इन वर्षों में मनुष्य की मान्यताएँ भी बदली है।

मनुष्य की जो मान्यता है। उसमें अच्छे और बुरे को पहचाना गया। समय के साथ ये मान्यताएँ भी बदलती गई। जैसे पहले मनुष्य को दास बनाकर रखा जाता था और जिसके पास अधिक संख्या में दास होते थे, उसे सभ्य माना जाता था। आज कल दास रखना असभ्यता एवं अपराध माना जाता है। सभी मानव को एक समान मानना समझदारी एवं सभ्यता माना जाता है।

हमें यह समझ में आया है। कि माता—पिता और गुरुजनों ने हमें समझने की प्रेरणा दी है। एवं शिक्षा दी है। शिक्षा से ही मनुष्य सुखी होता है। इसलिए हम माता—पिता और गुरु के प्रति कृतज्ञ होते हैं। इनका गुणगान करते हैं। आवश्यकता के अनुसार इसकी सेवा करते हैं। समारोह आयोजित कर इनका सम्मान करते हैं। यह मानव सभ्यता कहलाती है। इसी प्रकार शिशु जो अभी खेलना, बोलना नहीं सीखे हैं। उन्हें लगातार शिक्षा देते हैं। अच्छी बातें सिखाते हैं। अच्छे कार्य एवं व्यवहार सिखाते हैं ताकि ये बड़े होकर अच्छाई को समझे सीखें एवं करें। आगे पीढ़ी को सिखाएँ ताकि यह सभ्यता बनी रहे।

मानव सभ्यता में कुछ कार्यक्रम अनिवार्य रहते हैं, उनमें से कुछ निम्नलिखित है :—

1. शिशु पालन
2. शिक्षा
3. शोध एवं अनुसंधान
4. वस्तुओं का सदुपयोग
5. जल का संरक्षण एवं सदुपयोग
6. अपशिष्ट पदार्थ एवं मलमूत्र का प्रबंधन
7. स्वास्थ्य के लिए आहार पद्धति
8. रोग निवारण के लिए चिकित्सा
9. वस्तुओं के उत्पादन के लिए श्रम का महत्व
10. परिवार के स्तर पर सेवा
11. अतिथियों का सत्कार

.....

आप सुबह उठते हैं। मंजन करते हैं। बाल्टी में पानी भरकर स्नान करते हैं। तौलिए से शरीर को पोछते हैं। माँ थाली में नाश्ता देती है। आप नाश्ता कर जूता या चप्पल पहनकर विद्यालय की ओर जाते हैं। रास्ते में सड़क पर अनेक प्रकार के वाहन, सायकल, दुकाने, मकान इनमें रखे हुए अनेक वस्तुओं को देखते हैं। विद्यालय में श्यामपट, चाक, पेन्सिल, कलम एवं अनेक प्रकार की पुस्तकें देखते हैं।

कितनी सारी वस्तुएँ सुबह से रात तक हम कितने प्रकार की वस्तुओं का प्रयोग करते हैं। सोचिये इन वस्तुओं को कौन बनाता है? ये वस्तुएँ घर में कैसे आ गई।

हमारे प्रतिदिन की आवश्यकता की अनके वस्तुएँ हैं। इनमें से कुछ वस्तुएँ ही हमारे अपने घर में बनती है। शेष सभी वस्तुएँ दूसरे मानव बनाते हैं। बनाने का अर्थ है प्रकृति से प्राप्त किसी वस्तु पर कल्पना एवं श्रम लगाना। जैसे मिट्टी से पानी का घड़ा बनाना, भवन बनाना एवं धान से चावल निकालना, भात पकाना, सड़क बनाना, कपड़े बुनाना, कपड़े सिलना, औषधि निर्माण, बर्तन बनाना, टीवी बनाना, मोबाईल बनाना, अन्न उपजाना ऐसे अनेक प्रकार के कार्य हैं। जिनमें सुबह उठकर लोग लग जाते हैं एवं देर रात्रि तक कार्य करते हैं। कारखानों में तो रात्रि में भी कार्य होता है। बिजली सारी रातभर उपलब्ध रहती है। लोग सारी रात्रि जागकर कार्य करते हैं। अनेकों लोगों के अथक प्रयास से हमें ये सब वस्तुएँ उपलब्ध होती हैं।

क्या हमारी आवश्यकता की सभी वस्तुएँ हम स्वयं बना सकते हैं?

सभी मानव आवश्यकता एवं अवसर के आधार पर उत्पादन, सेवा एवं विनियम का कार्य करते हैं। इस प्रकार हमें मानव समाज में पूरकता समझ में आती है। इस पूरकता को समझना एवं पूरकता को बनाए रखना ही समझदारी कहलाता है।

पके हुए चावल का भात बननेतक कितने लोगों की पूरकता रहती है? सोचिए।

यह भी सोचिए की भारत का मानचित्र तैयार करने में कितने लोग कार्य किए होंगे। यह कितने दिनों या कितने वर्षों में बना होगा।

.....

i kB

l e;

आप प्रतिदिन प्रातः 7 बजे विद्यालय आते हैं। एवं दोपहर 12 बजे विद्यालय का अवकाश होता है। रात्रि 9 बजे आप सो जाते हैं। प्रातः 6 बजे उठते हैं। ये सभी कार्य समय पर होते हैं। आपको समय का पता कैसे चलता है? घड़ी का समय से क्या सम्बन्ध है? घड़ी का समय कौन निर्धारित करता है?

समय को समझने के लिए हम पहले दिन और रात्रि को समझेंगे। प्रतिदिन प्रातः काल से सूरज उगता है एवं सांयकाल सूरज छिप जाता है। सूरज का उगना ही प्रातःकाल कहलाता है। जब तक सूर्य निकला रहता है उसे दिन कहते हैं। सूरज के छिप जाने के बाद का समय रात्रि कहलाता है ऐसा प्रतिदिन होता है।

सूर्योदय से दूसरे दिन के सूर्योदय को एक दिन—रात कहते हैं। आज कल एक दिन रात को 24 बराबर भागों में बांट दिए हैं। प्रत्येक भाग को 1 घंटा कहते हैं। प्रत्येक घंटे को 60 भाग में बांटे हैं। इसके प्रत्येक भाग को 1 मिनट कहते हैं। इसी प्रकार मिनट के भी 60 भाग किए हैं। प्रत्येक भाग एक सेकण्ड कहताला है। घड़ी में समय का निर्धारण इसी प्रकार है।

आज से सैकड़ों वर्ष पूर्व हमारे देश में एक दिन रात को 60 भाग में बांट थे। प्रत्येक भाग 1 घटी कहलाता था। प्रत्येक घटी को 60 भाग में बांटे थे, उसे पल कहते थे। इसी प्रकार 1 पल को 60 भागों में बांटे थे, उसे विपल नाम दिया गया था। इसी प्रकार एक दिन—रात को हम कई प्रकार से बाँट सकते हैं।

दिन रात कैसे होते हैं? धरती अपने धुरी पर 1 चक्कर घूमती है। इसे एक दिन—रात रहते हैं। आधा दिन रात का अर्थ अपनी धुरी पर धरती ने आधा चक्कर लगाया। एक चक्कर के चौबीसवें भाग को 1 घंटा कहते हैं।

पृथ्वी का घूमना एक क्रिया है। हम क्रिया को पहचानते हैं। क्रिया के किसी अंश या हिस्से को भी पहचानते हैं। क्रिया से ही हम समय को नापे हैं। कोई क्रिया या अंश क्रिया का अंश ही समय कहलाता है।

1 वर्ष का अर्थ है धरती ने सूर्य का एक चक्कर लगाया किसी व्यक्ति की आयू 50 वर्ष है। इसका अर्थ यह है कि व्यक्ति के जन्म के पश्चात धरती ने सूर्य के 50 चक्कर लगाए हैं।

अतः क्रिया की अवधि ही समय या काल है।

आज से पहले घटी हुई घटनाओं का इतिहास कहते हैं। जैसे आज हम देखते हैं कि लोगों के पास मोबाईल फोन है, वाहन है, वायूयान-ट्रेन में लोग यात्रा करते हैं। कम्प्यूटर से अनेक कार्य होते हैं। दूरदर्शन से घर बैठकर हम पूरे विश्व का समाचार देख सकते हैं। आज से 300 वर्ष पूर्व इनमें से कोई भी वस्तु नहीं थी। लोग बैलगाड़ी घोड़े हाथी पर यात्रा करते थे। अधिकांश लोग पैदल यात्रा करते थे। प्रकाश के लिए वनस्पति तेल से दीप जलाते थे। इनका प्रकाश बहुत कम होता था अतः सूर्यास्त होते ही लोग अपना कार्य समेटकर विश्राम करते थे। प्रातः सूर्योदय के पूर्व उठकर कार्य प्रारंभ कर देते थे। पंखा कुलर वातानुकूलन के लिए यंत्र भी नहीं थे।

इस समय के पहले सोचने पर अन्य भिन्न स्थिति दिखती है। अतः हम मावन के प्रारंभ पर ध्यान देंगे, जहाँ मानव वन में रहता था। इसे जंगल युग कहते थे। वन में हिंसक पशु विषैले कीट के आक्रमण का भय था। वर्षा, शीत ग्रीष्म में वातावरण की पीड़ा थी। आँधी, बिजली गिरने, भूकम्प से भी भय था। वन के फल, पत्ते एवं कन्दमूल ही भोजन थे। वन के फल, पत्ते एवं छाल से ही वस्त्र का कार्य करते थे। इसी के साथ वन में दूर मानव के अन्य समूह भी रहते थे। उनकी बोली भिन्न होती थी। खाने-पीने का ढंग भिन्न होता था। कई बार उन्हें अपना मित्र मानकर एवं कई बार शत्रु मानकर व्यवहार करते थे। इस युग में मावन लगभग वन्यप्राणी की तरह जिया। इस समय में उपलब्धि के रूप में देखे तो मानव इतने भीषण प्रतिकूलता में जी गया। अपने भोजन को पहचानना, कुछ औषधियों को पहचानना, वस्त्र की सामान्य आवश्यकता को पूरा कर पाया, मुख्य रूप में पशुभय, प्राकृतिक भय एवं दूसरे मनुष्य के क्रूरता के भय से भयभीत होकर जीता रहा। भोजन का भी संकट बना रहा।

इन्हीं परिस्थिति में जीते समय भोजन के प्रबंध के लिए कृषिकार्य का विकास किया। वन को काटकर मैदान बनाकर रहना प्रारंभ किए ताकि वन्यपशु को दूर से ही देख सकें। मकान बनाना प्रारंभ हुआ। पूर्व के सभी कार्यों में प्रगति हुई। पशु भय काफी कम हुआ, प्राकृतिक भय कुछ कम हुआ। इन्हें कबीला या ग्राम कहा गया, परन्तु इस समय अन्य कबीले या ग्राम के मनुष्य दूसरे ग्राम के मनुष्यों की वस्तुओं को हड़पना, युध्य करना जैसी घटनाएं बढ़ गई अर्थात् मानव के क्रूरता का भय बढ़ गया।

मावन के भय से बचने के लिए राजायुग का प्रारंभ हुआ। मानव के जीने के नियम बने, युद्ध कौशल का अभ्यास प्रारंभ हुआ। हथियार का निर्माण प्रारंभ हुआ। इसी समय धातु को पहचान हो गई। पत्थर एवं लकड़ी के स्थान पर धातु आने से कृषि कार्य, पशुपालन, पशुओं के द्वारा यातायात सब बढ़ गया, आसान हो गया। इसमें गति बढ़ गई, हथियार भी बहुत घातक हो गए, पशुभय लगभग समाप्त हो गया। प्राकृतिक भय काफी कम हुआ, मानव का मानव से भय बढ़ गया।

राज युग में धातु का अविष्कार होने से जीने के सभी आयाओं में गति बढ़ी। भाषा, शिक्षा, संस्कृति, भोजन के तरीके, व्यापार, वस्त्र में पहले से अधिक वृद्धि हुई। समाज में लोगों के मिलने में गति बढ़ी। दूर-दूर तक यात्रा होने लगी, अधिक लोग यात्रा करने लगे। इन सब पर राजा का नियंत्रण रहा, राजा को युद्ध के लिए सेना एवं हथियारों की आवश्यकता पड़ी, लोगों से कर लिए जाने लगे, इसी के साथ राजा के द्वारा अत्याचार एवं शोषण भी होने लगा। एक देश दूसरे देश के साथ युद्ध करने लगे। युद्ध करना, विरोधियों को मारना, श्रेष्ठ कार्य माना जाने लगा।

लोग धीरे-धीरे युद्ध से एवं राजा के शोषण से पीड़ित हुए। इस समय तक राजा बनने के दो ही तरीके थे। प्रथम राजा के संतान राजा बनते थे एवं द्वितीय युद्ध में राजा को पराजित करने या मारने वाला व्यक्ति राजा बनता था। राजा के इच्छा से देश चलता था। इस मनमानी से बचने के लिए गणतंत्र प्रणाली आई। इसमें साधारण जनता को चुनाव के द्वारा देश के सर्वोच्च पद पर पहुंचने का अवसर मिला।

पश्चिम देशों अर्थात् युरोप, अमेरिका में पहले इसका प्रयोग हुआ। इसी समय विज्ञान के बहुत सारे आविष्कार हुए — जैसे विद्युत, खनिज, ईंधन, जैसे डीजल, पेट्रोल, मिट्टी का तेल, कोयला, मशीनें, इंजन, आधुनिक हथियार जैसे बंदुक, टैंक, वायुयान, खतरनाक रसायनिक हथियार आदि इन सबके कारण गति में बहुत वृद्धि हुई। सभी प्रकार के उत्पादन पहले से कई गुणा बढ़ गए। यात्राएं बहुत शीघ्र होने लगे। लोग पूरी दुनिया में जाने लगे। इन सबके बावजूद युद्ध पहले से अधिक बढ़ा। भयंकर युद्ध हुआ। कुछ ही मिनट में लाखों लोगों को मार डाला गया। इसके साथ ही प्राकृतिक संतुलन बिगड़ गया। वर्षा, शीत सभी में परिवर्तन हो गया।

आज इस स्थिति में मानव का मानव से भय कई गुणा बढ़ गया है। प्रकृति पर नियंत्रण करने के प्रयास में प्राकृतिक संतुलन और नियंत्रण भी गड़बड़ा गया है। अनेक प्रकार के सुविधा एवं भोग के सामान बने हैं। सुन्दर भवन, समतल सड़कें, हवाई यात्रा, अंतरिक्ष एवं दूसरे ग्रहों की यात्रा भी सुलभ है। परन्तु मानव आज भी सुखी नहीं हुआ है। आज मानव मानव के बीच सैहार्द स्थापित करना प्रमुख आवश्यकता एवं कार्यक्रम के रूप में उभरा है।

हम सभी मानव सोचते हैं। सोचना विचार करना भी कहलाता है। यह मनुष्य के जीने का एक आयाम है। हम सभी कुछ कार्य करते हैं। जैसे धान उगाना, सड़क बनाना, भवन बनाना, कपड़ा सीना आदि इसे हम व्यवसाय भी कहते हैं। यह भी हमारे जीने का एक आयाम है।

हम अन्य मानव के साथ बातचीत करते हैं। उनसे कई क्रियाएँ सीखते हैं। कई बातें समझते हैं। साथ में उठना, बैठना, खेलना, सेवा करना मानव परिवार में एक अनिवार्य भाग है। यह व्यवहार कहलाता है। व्यवहार भी हमारे जीने का एक आयाम है।

जब हमारे कार्य एवं व्यवहार ठीक होते हैं। तब हम सुखी या तृप्त होते हैं। अच्छे विचारों से भी सुखी होते हैं। हमारे उपरोक्त तीनों आयाम व्यवसाय, व्यवहार व विचार का फल सुख है। इसे अनुभव कहते हैं। यह जीने का एक और आयाम है।

इस प्रकार प्रत्येक मानव चार आयाम में जीता है। व्यवसाय, व्यवहार, विचार और अनुभव कोई भी इससे कम में नहीं जीता है।

इस पाठ में हम व्यवहार आयाम को समझने का प्रयास करेंगे

व्यवहार मुख्यतः दो प्रकार से होता है।

1. जिनसे हमारी अपेक्षा निश्चित रहती है। इसे सम्बन्ध कहते हैं। इनसे हम प्रायः राज मिलते हैं। या अधिक कहते हैं।
2. जिनसे हमारी अपेक्षा निश्चित नहीं रहती है। इनसे कभी कभी मिलता है या किसी उत्सव के अवसर पर कोई व्यक्ति कुछ समय के लिए मिलता है यह सम्पर्क कहलाता है। सम्पर्क में व्यवहार करने के कुछ नियम होते हैं। सामान्य बोलचाल में इसे शिष्टाचार भी कहते हैं। सम्पर्क में आने वाले प्रत्येक व्यक्ति को हमारे सामान मानव स्वीकार कर व्यवहार करते हैं। उनसे विश्वास एवं सम्मान का भाव सहित व्यवहार करते हैं। उन्हें समझने के लिए भी तत्पर रहते हैं। यह दयापूर्ण व्यवहार कहलाता है। इसे सामाजिक नियम भी कहते हैं।

सम्बन्ध में भी जीने के नियम होते हैं। सम्पर्क के जो नियम हैं वे सम्बन्धों में भी रहते ही हैं। इसके अलावा प्रत्येक सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न अपेक्षा रहती है। उन्हें भी पूरा करना सम्बन्ध में जीने के नियम कहलाते हैं।

परिवार सम्बन्ध प्रधान व्यवस्था है। इसमें माता-पिता, भाई-बहन दादा-दादी, पति-पत्नी सम्बन्ध होता है। प्रत्येक सम्बन्ध में अपेक्षा भिन्न होती है। जैसे हमें पिता से अच्छे कार्यों के लिए प्रेरणा एवं संरक्षण की अपेक्षा रहती है। यह अपेक्षा छोटे भाई-बहनों में नहीं रहती। उनसे सहयोग की अपेक्षा रहती है।

माँ कहती है कि हाथ साफ करो, तो हम हाथ साफ करते हैं। अध्यापक जी कहते हैं लिखों तो हम लिखते हैं। यह करना कहलाता है। करने के लिए बहुत से कार्य हैं। जैसे स्नान करना, मंजन करना, कपड़े धोना, सायकल सुधारना, पुस्तकों को यथा स्थान रखना, भोजन पकाना, अन्न उगाना आदि। करने में किसी दूसरे इकाई पर प्रभाव पड़ता है जैसे लिखने की क्रिया में कागज में रंग आ जाता है। पेन की स्याही कम हो जाती है।

अब एक दूसरे क्रिया पर विचार करते हैं जैसे हमें सायकल चलाना कैसे आया? हमें हिन्दी पढ़ना एवं लिखना कैसे आया? यह हमने सीखा। किसी को करते देखकर सीखा। किसी के सहयोग से सीखा। इसी प्रकार तैरना, भोजन बनाना, कपड़े सीना, भवन बनाना, सड़क बनाना, गाड़ी एवं इंजन बनाना ये सब कार्य हम सीखते हैं। सीखने में किसी क्रिया को कैसे करना है उसे सीखते हैं। उसमें भी पहले क्या करना है, उसके पश्चात् क्या करना है इसे सीखते हैं। उदाहरण के लिए कपड़े सीना है। उसका नाप लेते हैं। इसके पश्चात् कपड़े पर चिन्ह लगाते हैं। कपड़ा काटते हैं एवं सीलते हैं। यह क्रम है। यदि पहले ही सील लें तो क्या होगा? ठीक नाप नहीं होगा।

सीखने की क्रिया पहले है इसके पश्चात् करना होता है। सीखने की क्रिया में हम देखते हैं कि सीखने की वस्तुएँ भी भिन्न-भिन्न हैं एवं इसे कई प्रकार से किया जाता है। जैसे भोजन बनाना कई प्रकार से होता है। हर प्रत्येक स्थान पर अलग अलग ढंग से होता है। जैसे दक्षिण भारत का भोजन उत्तर भारत से कुछ भिन्न होता है। अफ्रीका एवं युरोप के देशों में यह अलग ढंग से बनता है।

कुछ वस्तुएँ एवं क्रियाएँ ऐसी हैं जो समय एवं स्थान के साथ नहीं बदलती। जैसे पानी का बहना। पानी सदा ढाल की ओर बहता है। इससे विपरीत और नहीं। यह भारत को युरोप, अमेरिका सभी स्थान पर एक जैसा ही रहता है। यह हर समय ऐसा ही रहता है। हजारों वर्ष पूर्व भी ऐसा ही था। आज भी ऐसा ही है। इसे हम सीखते नहीं हैं, करते नहीं हैं, समझते हैं। इसे नियम कहते हैं। नियम को समझा जाता है।

मानव मानव के बीच में व्यवहार के नियम होते हैं। उन नियमों में जीने पर दोनों पक्ष सुखी होते हैं। नहीं जीने पर दोनों पक्ष दुखी हो जाते हैं। हम सभी एक दूसरे के साथ विश्वास पूर्वक जीना चाहते हैं। स्नेह पूर्वक जीना चाहते हैं। जब विश्वास पूर्वक जीते हैं तब न्याय होता है। यह हमेशा एक जैसा होता है।

जो वस्तु निरन्तर एक जैसे रहते हैं जैसे स्वभाव एवं धर्म वे समझने की वस्तुएँ हैं।

पदार्थ अवस्था एवं प्राण अवस्था आपस में पूरक है। पदार्थ प्राण व जीव अवस्था भी आपस में पूरक है। ये सब मानव के भी पूरक है। से सभी व्यवस्था में है। यदि हम पूरकता को समझे बिना कार्य करते हैं तो गलती होती है।

अतः समझना सीखना एवं करना ये मानव के लिए अनिवार्य है।

ikB&19 ekuo 'kjhj

मानव शरीर कई तंत्रों से बना होता है। जैसे पाचन तंत्र, उत्सर्जन तंत्र, अस्थि या कंकाल तंत्र, श्वसन तंत्र, हृदय एवं रक्त तंत्र, मस्तिष्क तंत्र।

पाचन तंत्र द्वारा भोजन पचाने का कार्य होता है।

उत्सर्जन तंत्र द्वारा शरीर से अनावश्यक द्रव्यों को मल-मूत्र एवं पसीने के रूप में बाहर निकाला जाता है। अस्थि तंत्र द्वारा शरीर का ढाँचा स्थिर बना रहता है। श्वसन तंत्र द्वारा शरीर के लिए उपयोगी प्राण वायु रक्त में पहुँचती है एवं अनुपयोगी वायु बाहर निकल जाती है। हृदय एवं रक्त तंत्र द्वारा सम्पूर्ण शरीर में शुद्ध रक्त पहुँचकर पोषण होता है।

मस्तिष्क तंत्र द्वारा पूरे शरीर का नियंत्रण होता है। यह नियंत्रण मुख्यतः दो प्रकार का होता है।

1. क्रियावाही तंत्र
2. ज्ञानवाही तंत्र

क्रिया वाही तंत्र द्वारा स्वतः या अनैच्छिक क्रियाओं का नियंत्रण होता है, जिसमें श्वसन क्रिया, हृदय की धड़कन एवं रक्त का परिसंचरण, शीत-ग्रीष्म के प्रभाव से कँपकँपी, पसीना निकलना आदि होता है। भोजन का पाचन एवं निष्कासन, उत्सर्जन द्वारा मूत्र निकलना भी इसी तंत्र का भाग है। यह मुख्य रूप से शरीर व्यवस्था कहलाती है। यह क्रियाएँ क्रम से एवं समय से होती हैं। अतः नियमित है। इसी कारण हमें समय पर भूख, प्यास एवं निद्रा आती है।

ज्ञानवाही तंत्र मुख्य रूप से शरीर के विभिन्न अंगों, अवयवों एवं ज्ञानेन्द्रियों से सूचना के आदान-प्रदान के लिए जिम्मेदार होता है। जैसे जीभ पर कोई खाद्य पदार्थ रखने पर जीभ व उस पदार्थ के बीच कोई क्रिया होती है। वह प्रभाव मस्तिष्क तक पहुँचता है। उस खाद्य पदार्थ का स्पर्श जीभ पर हुआ, वह स्पर्श भी मस्तिष्क तक पहुँचता है। मस्तिष्क के द्वारा जीवन उन सूक्ष्म परिवर्तनों को पहचान लेता है, स्मरण रखता है एवं आवश्यकतानुसार पुनः पैदा भी करता है। अतः जीवन के अनुसार मस्तिष्क कार्य करता हुआ, संकेतों को इन्द्रियों तक पहुँचाता है। अतः जीवन एवं शरीर के बीच समन्वय के लिए मस्तिष्क के ज्ञानवाही तंत्र का प्रयोग होता है।

जब हम इमली को देखते हैं, तो लालच आता है। मुँह में लार आती है। इसी प्रकार क्रोधित होने पर मुँह कड़वा होता है, दुःखी होने पर आँखों में आँसू आते हैं। लालच, क्रोध, दुःख ये सब जीवन में होता है। जीवन के अनुसार मस्तिष्क तंत्र कार्य करता है। मस्तिष्क के अनुसार विभिन्न ग्रंथियाँ (रस ग्रंथियाँ) कार्य करती हैं। रस ग्रंथियों के कारण लार आदि प्रभाव भी होते हैं। ज्ञानवाही तंत्र एवं क्रियावाही तंत्र को सम्मिलित रूप में मस्तिष्क तंत्र या मेधस तंत्र भी कहते हैं।

शरीर को स्वस्थ रखने के लिए हम अपने प्रकार के क्रिया—कलाप करते हैं। भोजन के अलावा लगभग सभी क्रिया—कलापों को सम्मिलित रूप में विहार करते हैं। विहार में विश्राम करना, विश्राम करने के तरीके, टहलना, खेल—कुद करना, दौड़ना एवं अन्य व्यायाम करना, स्नान एवं शरीर की सफाई करना, मालिश करना आते हैं।

विहार करने का मुख्य उद्देश्य शरीर को स्वस्थ रखता है। सभी व्यायाम एवं खेल का उद्देश्य यही है। कई बार भूलकर हम जीवन की तृप्ति या मनोरंजन के लिए खेलकूद एवं व्यायाम करते हैं। ऐसी स्थिति में शरीर की क्षमता से अधिक कार्य या गति करते हैं। इससे शरीर में चोट लग जाती है। इसी के साथ खेलकूद में जीत — हार की भावना होने से स्पर्धा एवं ईर्ष्या होती है, जो जीवन की अतृप्ति या दुःख का कारण होता है। हर ऋतु में तापमान, वायु में आर्द्रता, वर्षा भिन्न—भिन्न होती है। उस स्थिति में शरीर को स्वस्थ रखने के लिए अलग विधि अपनाते हैं। अर्थात् विहार में बदलाव करते हैं। इसे ऋतु चर्या भी कहते हैं। जैसे ग्रीष्म ऋतु में हमारे राज्य में अत्यधिक गर्मी पड़ती है। दिन भर तेज धूप एवं गर्म वायु चलती है। इसे लू कहते हैं। ऐसे समय में घर में रहते हैं। बाहर निकलना हो तो सिर को, कान को बाँधकर निकलते हैं। ज्यादा श्रम के कार्य बंद करते हैं। व्यायाम बंद करते हैं, या उसमें कमी लाते हैं। ठंडे पानी से स्नान करते हैं। दो या तीन बार भी स्नान करते हैं, पेड़ों की छाया में बैठते हैं। रात्रि में एवं प्रातः उठकर भ्रमण करते हैं।

शीत ऋतु में यहाँ सूखी (पुष्क) हवा चलती है। कभी—कभी शीत लहर चलती है। इससे चमड़ी, चेहरे, होंठ फट जाते हैं। इससे बचने के लिए तेल मालिश करते हैं या घी या अन्य चिकनाई को शरीर में लगाते हैं। सिर में तेल लगाते हैं। तेल लगाने से शीत का प्रभाव शरीर पर कम पड़ता है। स्नान के लिए गुनगुने जल का प्रयोग करते हैं। बाहर निकलने पर ऊनी कपड़े से सिर एवं सीने को ढकते हैं। इन दिनों अधिक श्रम के कार्य करते हैं। दौड़ना आदि व्यायाम अधिक करते हैं।

विहार में स्वच्छता एक प्रमुख भाग है। कान, आँख नाक की सफाई, दाँत व मसुढ़ों की सफाई, नाखून काटना, बालों को काटना, शरीर को स्नान द्वारा साफ करना, स्वच्छ वस्त्र धारण करना, शरीर को स्वस्थ बनाने में हितकर होता है।

विश्राम एवं निद्रा, विहार का एक अनिवार्य भाग है। लगातार श्रम करना स्वास्थ्य के लिए अनुकूल नहीं होता। बीच—बीच में विश्राम करना आवश्यक है। रात्रि में निद्रा आवश्यक है।

सूर्योदय से पूर्व सोकर उठना शरीर को ताजगी एवं स्फूर्ति देता है। सूर्योदय के बाद उठने पर आलस्य बढ़ता है, शरीर में सुस्ती भी आती है। शरीर की सफाई के कार्य में भी बाधा होती है।

ikB&17
mi ; kfxrk eW;

चावल से हमारे शरीर का पोषण मिलता है। हम चावल खाते हैं, तो हमारी भूख मिटती है। और शरीर भी पुष्ट होता है।

आज से हजारों साल पहले भी मानव चावल खाता रहा है। उस समय एक किलो चावल एक परिवार के पाँच लोगों की आवश्यकता के लिए पर्याप्त रहा। उससे पोषण भी होता था। आज के दिन भी एक किलो चावल उसी तरह के परिवार के पाँच लोगों की आवश्यकता और पोषण के लिए पर्याप्त है। इसका मतलब है कि चावल की पोषण शक्ति स्थिर है। इस पोषण शक्ति इतने हजारों सालों में वैसी ही बनी रही। अर्थात् चावल की पोषण शक्ति स्थिर है। इस पोषण शक्ति को हम चावल का उपयोगिता मूल्य भी कहते हैं। हमें यह दिखता है कि चावल का उपयोगिता मूल्य स्थिर है। इसी तरह हजारों सालों से दूध, गेहूँ, आम, नीम का उपयोगिता मूल्य हमेशा ही बना रहा है। इसमें हमें यह समझ में आता है कि वस्तु की उपयोगिता स्थिर है। इसी तरह हजार सालों पहले लोहे की जो उपयोगिता थी, आज भी वही है। सौ साल पूर्व 1 लीटर दूध पचास पैसे में मिलता था। आज वही एक लीटर दूध बीस रुपये में मिलता है। रुपयों में जो नापते हैं उसे हम कीमत कहते हैं। जैसे दूध की कीमत बीस रुपये लीटर है। दूध का उपयोगिता मूल्य शरीर के पोषण के अर्थ में है। यह मूल्य और उसकी कीमत अलग-अलग चीजें हैं। मूल्य हमेशा स्थिर होता है, लेकिन कीमत बदल सकती है।

मानव, शरीर और जीवन का संयुक्त रूप शरीर की शक्ति सीमित है। जीवन की शक्ति अक्षय हैं। शरीर की आवश्यकता—भोजन वस्त्र, आवास है। अपनी भूख से अधिक भोजन नहीं कर पाते, यदि किसी लालच वश ऐसा कर भी लें तो शरीर अस्वस्थ हो जाता है। शरीर की आवश्यकता सीमित है।

जीवन की आवश्यकता निरन्तर है। जीवन निरन्तर सुखी होना चाहता है। जीवन निरन्तर विश्वास के वातावरण में जीना चाहता है। जीवन निरन्तर सम्मान चाहता है। यह समझने वाला जीवन ही है। इसी प्रकार शरीर की आवश्यकता सीमित है।

आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए जीवन शरीर के साथ कार्य करता है, जीवन शरीर से कार्य कराता है, जीवन स्वयं कार्य को समझना है। जीवन और शरीर मिलकर कार्य करते हैं, जबकि आवश्यकता केवल शरीर की है। जीवन अक्षय शक्ति सम्पन्न है, अतः शरीर की आवश्यकता पूरी की जा सकती है। प्रकृति पर ध्यान देकर हम समझ चुके हैं कि पदार्थ, प्राण एवं जीव अवस्था, मनुष्य से बहुत अधिक है। मनुष्य के शरीर की आवश्यकता इन्हीं से पूरी होती है। अतः प्रकृति में भी, मनुष्य की आवश्यकता पूरी होने की व्यवस्था है।

मानव समाज में उत्सव धूमधाम से मनाए जाते हैं। पूरे विष्व में विभिन्न अवसरों पर विभिन्न उत्सव मनाए जाते हैं। उत्सव मनाने का ढंग पूरे विष्व में अलग-अलग है। इसे ही संस्कृति कहा जाता है।

उत्सव मनाने के कई अवसर होते हैं। इनमें से कुछ प्राकृतिक होते हैं। एवं कुछ मानव संबंध के आधार पर होते हैं एवं कुछ मानव संबंध के आधार पर होते हैं। प्राकृतिक उत्सव मुख्य रूप से ऋतुओं के आधार पर होते हैं। ऋतुएँ मुख्यतः सूर्य पर आधारित होती हैं।

ग्रीष्म ऋतु में सूर्य खूब सबेरे दिखता है एवं सायं देर से दिखाई देना बंद होता है। इससे दिन बड़े हो जाते हैं, वातावरण गर्म हो जाता है। लोग गर्मी से पीड़ित होने लगते हैं। पेड़-पौधे सूखने लगते हैं, घास तो सूख ही जाती है। तालाब, नदी आदि जलाशय सूखने लगते हैं। पानी की कमी से लोग व्याकुल होने लगते हैं। अधिक गर्मी से प्यास अधिक लगती है, पसीना अधिक आता है एवं स्नान की आवश्यकता भी बढ़ जाती है। लोग वर्षा की प्रतीक्षा करने लगते हैं। जैसे ही वर्षा आती है। गर्मी दूर हो जाती है। ठंडक आ जाती है। लोग प्रसन्न होते हैं। धरती में हरियाली छाने लगती है। जलाशय भरने लगते हैं। ऐसे समय कोई एक दिन निश्चित कर लोग एक स्थान पर मिलते हैं एवं आगे का कार्यक्रम तय करते हैं क्योंकि वर्षा के प्रारंभ से खेतों की जुताई, बीज बोना जैसे कार्यक्रम का अनुकूल समय आ जाता है। लोग साथ-साथ बैठकर खाते पीते हैं।

अपनी खुशियों को गीतों एवं गद्य के माध्यम से व्यक्त करते हैं। वर्षा ऋतु के कार्यों का स्मरण, इस ऋतु में स्वस्थ रहने के लिए आवश्यक आहार एवं विहार पर चर्चा करते हैं। गीतों द्वारा भी अपनी खुशियों को व्यक्त करते हैं। इन्हें लोकगीत कहा जाता है।

स्थान-भिन्नता के आधार पर वर्षा ऋतु प्रारंभ होने का समय बदलता है। जैसे केरल प्रदेश में एक जून से वर्षा प्रारंभ हो जाती है। एवं हमारे छत्तीसगढ़ में पंद्रह जून से वर्षा प्रारंभ होती है। इसी प्रकार कई जगह दिन भर वर्षा होती है। तो कई जगह कम होती है। कई जगह विशेषकर रेगिस्तान में पूरी वर्षा ऋतु में चार-पाँच बार ही वर्षा होती है। इस प्रकार वर्षा ऋतु की लम्बाई भी अलग-अलग होती है अतः सभी स्थानों पर रहने के, आहार के, विहार के तरीके बदले हुए रहते हैं, वे सभी अपनी ऋतु के अनुसार होते हैं। इसलिए हमें इन गीतों एवं उत्सव मनाने के तरीकों में विभिन्नता दिखाई पड़ती है।

वर्षा ऋतु के अन्त में मौसम अनुकूल हो जाता है। वर्षा काफी कम हो जाती है। गर्मी दूर हो जाती है। फसलों में फूल आने लगते हैं। वातावरण में फूलों की, फलों की सुगन्ध भरने लगती है। पशु-पक्षी इन फसलों को खाने एवं नुकसान पहुँचाने के लिए पहुँचते हैं। इस समय सभी लोग पुनः जमा होते हैं एवं अपने अगले कर्तव्यों को निश्चित करते हैं। फसल उत्पादन का अनुमान लगाकर प्रसन्न होते हैं एवं आगे की योजनाएं बनाते हैं। गीतों, नृत्यों के माध्यम से इन भावों का व्यक्त करने का प्रयास करते हैं। साथ-साथ बैठकर भोजन करते हैं। यह शरदोत्सव कहलाता है। सभी कृषि प्रधान भू-भागों में इसे खूब धूमधाम से मनाया जाता है। उत्सव मनाने के दिन एवं तरीके स्थान भेद से बदलते हैं।

इस प्रकार वर्ष भर में अनेक प्राकृतिक घटनाएँ होती हैं। इन घटनाओं में खुशी से जीने एवं स्वस्थ रहने की प्रेरणा, शिक्षा एवं कर्तव्यों को निभाने की एक मानव सहज कार्यप्रणाली को उत्सव कहा जाता है।